International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 10-07-2024, Accepted: 09-08-2024, Published: 24-08-2024
Volume 6, Issue 2, 2024, Page No. 22-28

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों के हिंदी उपन्यासों में उत्तर–आधुनिक बाजार–संस्कृति की भयावहता

सुनिल कुमार[1], डॉ. भरत कुमार[2]
[1] शोधार्थी, हिंदी विभाग, जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान, भारत
[2] शोध–निर्देशक, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान, भारत

सारांश

'बाजारवाद' उत्तर–आधुनिक दौर की सर्वाधिक प्रबल प्रवृत्ति 'भूमंडलीकरण' का उत्पाद है जिसे समकालीन परिपक्व और क्रूर पूँजीवाद का विश्वव्यापी प्रसार कहा जा सकता है। इसने अपने हितों को पोषित करने के लिए सबसे खराब क्रम के 'उपभोक्तावाद' द्वारा संचालित बाजार संस्कृति को बढ़ावा दिया है। वर्तमान में इस 'बाजारवाद' का स्वरूप इतना विशालकाय हो गया है कि इसने संसार की लगभग प्रत्येक वस्तु को अपने भीतर समाहित कर लिया है। फलतः जीवन पर इसके बहुत ही भयावह परिणाम सामने आए हैं। इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासकारों ने अपने समसामयिक समाज के इस भयावह यथार्थ और जीवन पर उसके दुष्परिणामों का बहुत ही संवेदनशील और कलात्मक साक्षात्कार करवाया है। इस सदी के उपन्यासों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि 'बाजारवाद' के आर्थिक दबावों के चलते निम्न एवं मध्यमवर्गीय परिवारों के व्यक्तियों का जीवन अंतर्द्वंद्वग्रस्त एवं आत्ममनस्तापी होकर अनेक प्रकार के मानसिक रोगों स्किजोफ्रेनिया, डेमेंशिया आदि से ग्रस्त हो रहा है। पागलों और विक्षिप्तों की संख्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही है। लगता है दुनिया का अधिकांश एक पागलखाने में तब्दील हो रहा है।

मूल शब्दः बाजारवाद, उत्तर–आधुनिकता, भूमंडलीकरण, पूँजीवाद, बहुराष्ट्रीयकृत निगम, उपभोक्तावाद।

मूल प्रतिपादन–

विश्व के अतिविकसित राष्ट्रों के वृद्ध–पूँजीवाद प्रायोजित भूमंडलीकरण की उन्मुक्त व्यापार व्यवस्था ने समस्त विश्व में बाजारवाद और उपभोक्तावाद का ऐसा इंद्रजाल फैलाया कि शेष अविकसित राष्ट्रों के निम्न एवं मध्यमवर्गीय आम आदमी का जीवन बाजार की गिरफ्त में बुरी तरह फँसता चला गया। हिंदी उपन्यासकारों ने इस सदी के पिछले बीस वर्षों में इस संकट का विविध रूपात्मक साक्षात्कार करवाकर उसके प्रति प्रतिरोध और मोहभंग का स्वर बुलंद किया है। और आम आदमी के मन में उसके प्रति वितृष्णा का भाव पैदा करने में सफल हुए हैं। इस संबंध में 'पागलखाना' उपन्यास का एक संदर्भ उल्लेखनीय है–''एक दिन जीवन पर बाजार का पूरा कब्जा हो गया। समय ऐसा आया कि विचार, सोच, धज, कपड़े–लत्ते, भाव, प्यार, मुस्कान, संस्कृति, कला, संगीत, साहित्य, लोक–जीवन की हर 'शै' बाजार के इशारे पर चलने लगी।''[1] इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर सर्वप्रथम अलका सरावगी के उपन्यास 'शेष कादंबरी' (2001) ने घंटी बजाकर 'बाजारवाद' के खतरों की सूचना दी। इस औपन्यासिक कृति ने सर्वप्रथम विकसित राष्ट्रों द्वारा प्रायोजित वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप बढ़ते बाजारवाद और उपभोक्तावाद से उत्पन्न गरीबी, वेश्यावृत्ति और आत्महत्याएँ, जीवन की संवेदनशून्यता बनाम कृत्रिम संवेदना, टीवी सीरियलों और मीडिया के बिकाऊपन, वृद्धों का एकाकीपन, अवसाद और आत्महत्याएँ, समकालीन युग की भाग–दौड़ एवं आपाधापी, लड़कियों के भावनात्मक शोषण एवं ड्रग एडिक्शन, पाप–पुण्य के मिटते हुए भेद, स्त्रियों के बलात्कार एवं घरेलू हिंसा, विदेशी निवेश के परिणामस्वरूप चौपट होते देशी उद्योग–धंधे एवं नष्ट होती हुई देशी अर्थव्यवस्था के संकटों को उजागर किया। बाजारवाद के फलस्वरूप बढ़ती हुई आर्थिक असमानता और विभेद को उपन्यास की स्त्री पात्र 'रूबी' इन शब्दों में इंगित करती है– ''वह पहले अपने को जमाने के साथ पाती थीं, पर अब तरह–तरह की नई चमचमाती गाड़ियों के बीच अपने को बहुत अकेला और पिछड़ा हुआ पाती हैं। देखते ही देखते लोगों के पास कितना पैसा बढ़ गया।....सदी के अंतिम दस सालों में तो अब समझना नामुमकिन है कि किसके पास कितना पैसा कहाँ से आ रहा है। हर तरफ गाड़ियाँ हैं, एक से एक चमचमाती। लेकिन रूबी दी की एम्बेसडर खटारा होकर भी वैसी की वैसी चल रही है, जैसे खुद वह और उनकी जिंदगी का ढर्रा।''[2] दूसरे सोपान पर काशीनाथ सिंह कृत उपन्यास 'काशी का अस्सी' (2002) इन खतरों को अधिक भयावहताओं के साथ प्रस्तुत करता है। परंपरागत धार्मिक ब्राह्मणों और पंडे पुरोहितों द्वारा अपने धर्म की पवित्रता से विमुख होकर मलेच्छों को प्रश्रय देना, विदेशी पूँजीपतियों द्वारा देश को लूटना, देश के समाजवादियों एवं बुद्धिजीवियों का घटता महत्व, नेताओं की अवसरवादिता और भ्रष्टाचार, देश में राजनीति का मूल्यहीन एवं सिद्धांतहीन होकर उसका अपराधीकरण और व्यावसायीकरण होते जाना, पूँजीपतियों द्वारा धर्म की राजनीति करते हुए देश की जनता को गुमराह करना, काशी की व्यंग्य, हास–विलास , बेफिक्री और संतोष आदि की भांग भरी मस्तानी जीवनशैली और हँसी का गायब होकर जीवन की सहजता का नष्ट होना, नई पीढ़ी में फैलती बेकारी, बेरोजगारी और व्यसन, अस्सी घाट में फैलती वेश्यावृत्ति, साधुओं द्वारा धर्म का अपराधीकरण एवं व्यावसायीकरण, काशी के ज्ञान केंद्र की धूमिल होती छवि, भारतीय संस्कृति का विरूपण, मुनाफाखोरी हेतु प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का बाजारीकरण, सत्ता–धर्म–पूँजी और मीडिया का गठजोड़, बच्चों से उनका जीवन छिनकर उनके दिमाग में मल्टीनेशनल भरना, लड़कियों को ब्यूटी पार्लर, मॉडलिंग, फैशन शो, सीरियलों आदि में धकलते हुए स्त्री का बाजारीकरण, परंपरागत मनोरंजन के वातावरण को विस्थापित कर लोगों को घरों में कैद कर देना, पारंपरिक जीवन शैली को विस्थापित कर भाग–दौड़ व आपाधापी को प्रत्यारोपित करना, कंपनियों द्वारा विज्ञापनों के माध्यम से जनता को उपभोग के लिए विवश करना, सार्वजनिक चौपालों आदि का विस्थापन, हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की बहु–उपयोगी परंपरागत वस्तुओं, वेशभूषाओं आदि का जबरन विस्थापन और मुनाफे हेतु जानबूझकर बाजार द्वारा उनके स्थान पर नवीन वस्तुओं का प्रतिस्थापन, विकास के नाम पर मानवता और प्रकृति का विस्थापन, हैसियत–तुलना एवं प्रतिस्पर्धा की नवीन नगरीय जीवन शैली का आरोपण, व्यक्ति की स्वार्थअंधता, वृद्धों का निष्कासन एवं असम्मानजनक

जीवन, परंपरागत साहचर्य–सहयोगात्मक परिवेश का विस्थापन बनाम मानव का अजनबीपन और अकेलापन, भ्रष्टाचार का औचित्यस्थापन, परंपरागत वस्तुओं पर प्रदूषित होने का ठप्पा लगाकर उन्हीं वस्तुओं का नए रूप में बाजार खड़ा करने, नई पीढ़ी की आदर्शों में बढ़ती अनास्था और केवल धनार्जन को बहुमूल्य समझने और अंततः इक्कीसवीं सदी में विदेशी एजेंसियों द्वारा देश के जीवन की वास्तविक हँसी और सहजता को नष्ट कर देने सहित कितनी ही बाजारवादी साजिशों का इस औपन्यासिक कृति में पर्दाफाश किया गया है। मानव जीवन पर बाजारवादी गिरफ्त को उपन्यास में इस तरह प्रस्तुत किया गया है– ''बाजार वह नहीं है जो सड़क पर है, दुकान में है, नुक्कड़ पर है, शोकेस में है। बाजार वह है जो तुम्हारे दरवाजे पर है, पोर्टिको में है, ड्राइंगरूम में है, बेडरूम में है, आलमारी में है, किचेन में है, टॉयलेट में है और यही क्यों तुम्हारे बदन पर है, सिर के बालों से लेकर पैरों के नाखून तक है। ऐसा कि जो तुम्हारे घर जाए या तुम्हें देखे, उसके लार टपकने लगे, उसकी नींद और उसका चैन छिन जाए, तड़प उठे कि यह चीज, जो तुम्हारे पास है, उसके पास सुबह नहीं तो शाम तक आ जाए। और जब तक न आए तब तक न खाना अच्छा लगे, न पीना, न जीना।''[3] इसके बाद मिथिलेश्वर कृत 'सुरंग में सुबह' (2003) उपन्यास वैश्वीकृत बाजारवाद को लोकतंत्र के एक संकट के रूप में चित्रित करता है। यहाँ वैश्वीकृत 'बाजारवाद' को मनुष्य के विकास का घटक न मानकर उसके ह्रास का घटक मानते हुए एक प्रतिरोध उपस्थित किया गया है। समकालीन वैश्विक बाजारवाद साम्राज्यवादियों की एक नई साजिश अथवा एक नए प्रकार का आर्थिक उपनिवेश बनाए जाने की प्रक्रिया है।[4] यह तकनीकी विकास के तहत पूँजी संचालित ऐसी अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था है जिसके तहत बहु–राष्ट्रीय निगमों की प्रतिस्पर्धा में स्वदेशी उद्योग धंधे और देशी अर्थव्यवस्था विनष्ट हो रही है। देश पर बहुराष्ट्रीय निगमों का कब्जा हो रहा है। इस षड्यंत्र के तहत विज्ञान के चमत्कारिक प्रयोगों, परिणामों और सफलताओं को बाजार के रूप में प्रयुक्त कर देश के जीवन, समाज और व्यवस्था को वैश्वीकरण के चंगुल में फँसाया जा रहा है।[5] यह बाजारवाद एक नई साम्राज्यवादी योजना के तहत नए आर्थिक उपनिवेश स्थापित करने हेतु एक प्रकार का आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से किया गया विदेशी आक्रमण है जो हमारी स्वदेशी अर्थव्यवस्था को विस्थापित करने के साथ–साथ हमारे युवकों की एक बड़ी संख्या को हमारी संस्कृति और इसके सरोकारों और संस्कारों से काट रहा है।[6] यानी वे हमारे बीच अपनी जमात पैदा कर रहे हैं ताकि उनका बाजार फलता–फूलता रहे। इसी वैश्विक बाजारवाद के प्रभाव से देश के गाँव और नगरों के विकास के बीच एक बहुत बड़ा गैप पैदा हुआ है। जहाँ गाँव आज भी अपनी समस्त कुरूपताओं और बदहाली के साथ विद्यमान हैं वहीं बड़े–बड़े शहर और नगर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के स्वागत में सौंदर्यीकृत और कुबेर की नगरी बने हुए हैं।[7] इसी क्रम में हमारे लोकतंत्र और विश्व–बाजार का गठबंधन हो जाने के कारण उन्मुक्त बाजार और स्वेच्छाचारी अपसंस्कृति का उदय हुआ है। इस बाजारवाद के प्रभाव से ही राजनीति को भी पैसा कमाए जाने का साधन बनाया जा रहा है। महिलाएँ राजनीति में आगे बढ़ने के लिए 'सेक्स की राजनीति' कर रही हैं और 'यौन–संबंधों' का एक तरह से बाजारीकरण कर रही हैं। उपन्यास की नायिका नेत्री नंदिता ने अपनी अवस्था और रूप का चमत्कार देख लिया था। अपनी अदाओं पर अब उसे पक्का विश्वास हो गया था। सफलता की कुंजी और कामना का राजमार्ग वह पा गई थी।[8] आज की समस्त व्यवस्था ही लोक संचालित न होकर पूँजी अथवा बाजार संचालित हो गई है। यहाँ तक कि लोकतंत्र का फोर्थ स्टेट कहे जाने वाली पत्रकारिता या मीडिया भी पूँजीचालित होकर केवल सामर्थ्यवालों की मिथ्या खबरों को ही स्थान देता है। यानी पूँजीचालित खबर की पैठ ऊपर से नीचे तक है। बाजार संचालित मीडिया का यह स्वरूप पत्रकारिता की पतनशीलता की पराकाष्ठा है। मीडिया का सामाजिक जागरण का उद्देश्य एवं उसकी विश्वसनीयता खत्म हो गई है। खबरों के व्यापार का एक नया बाजार ही विकसित हो गया है।[9] बाजारूपन मीडिया इस हद तक पतित हो गया है कि वह पैसे के लिए झूठी खबरें तक प्रकाशित–प्रसारित कर देता है। वह नायक को खलनायक तथा खलनायक को नायक बना देने की सामर्थ्य रखता है, वह खबरों को खरीद भी सकता है और बेच भी। उपन्यास के पात्र घनश्याम के व्यंग्यात्मक शब्दों में– '' मीडिया को पूरी तरह संवेदनहीन नहीं कहा जा सकता है। उसने संवेदना की अपनी प्राथमिकताएँ बदल दी हैं। अब उसके केंद्र में किसान–मजदूर और जमीनी सच्चाइयाँ नहीं रहीं, सत्ता–प्रतिष्ठान के लोग, बड़े उद्योगपति, बड़े खिलाड़ी, बड़े फिल्मकार और बड़े घराने हैं। गाँव के किसान–मजदूरों की हत्याएँ, आत्महत्याएँ, विवश लाचार ग्रामीण स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार तथा ग्रामीण बालिकाओं की खरीद फरोख्त जैसी घटनाओं पर मीडिया का फोकस नहीं। अभी पिछले दिनों मीडिया के लिए एक बड़े शेयर दलाल की रिश्तेदार विलासी युवती का अपने ड्राइवर के साथ भाग जाना एक बड़ी खबर थी। एक बड़े घराने की युवती का माँ बनना मीडिया के लिए एक असाधारण घटना थी।....लेकिन बिहार के एक गाँव में सामंती जुल्म और अधिकारियों की उपेक्षा से एक पूरा परिवार अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ। यह खबर मीडिया के दायरे में कोई महत्व नहीं रखती है।''[10] आज समाचार पत्रों और मीडिया चैनलों के मालिक बड़े पूँजीपति और उद्योगपति हैं, जो खबरों का व्यापार मात्र करते हैं। उनका असली मकसद सूचनातंत्र और बाजार पर अपना प्रभुत्व कायम रखना है।[11] पुनश्च 2004 में प्रकाशित रवींद्र वर्मा के उपन्यास 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा' में भूमंडलीकरण के बाजारवाद से पनपते यूरोपीय आर्थिक आधिपत्य को नव साम्राज्यवादी तंत्र जाल बताते हुए उनके सांस्कृतिक वर्चस्ववाद को भारतीय संस्कृति के संकट के रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास के एक प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि –''इसी भूमंडलीकरण का दूसरा नाम साम्राज्यवाद है जिसे गोरे 'गोरे का कर्त्तव्य' (व्हाइट मैन्स बर्डन) भी कहते हैं। वे हमें गुलाम बनाकर हम पर अहसान कर रहे हैं– हमें नई तकनीक और संस्कृति दे रहे हैं।''[12] अगले पदानुक्रम पर ममता कालिया का उपन्यास 'दौड़' (2005) भूमंडलीकृत बाजारवाद और उपभोक्तावाद से उत्पन्न इक्कीसवीं सदी के सांस्कृतिक संकट का आख्यान है। यह भारतीय संस्कृति के आदर्श पारिवारिक संबंधों पर बाजारवाद की अंधी दौड़ के दुष्प्रभावों को व्याख्यायित करता है। परंपरागत आदर्श पारिवारिक संबंधों का बाजारीकरण स्वयं में एक भयावह स्थिति है। इस संबंध में उपन्यास का एक संदर्भ दर्शनीय है– ''जाने के दिन उसने माँ के नाम बीस हजार का चैक काटा, माँ हमारे आने से आपका बहुत खर्च हुआ है, यह में आपको पहली किस्त दे रहा हूँ। वेतन मिलने पर और दूँगा।''[13] और इससे भी भयावह स्थिति है मानवीय संवेदनाओं का एकदम से खत्म हो जाना। कॉर्पोरेट जगत में कार्यरत उपन्यास का एक प्रवासी पात्र सिद्धार्थ अपने पिता के अंतिम संस्कार के समय उसमें शामिल न होने के लिए जब अपनी माँ के समक्ष दूरभाष पर बहानेबाजी और बनावटी सहानुभूति का दिखावा करता है तो आँखों के सामने वर्तमान का संवेदनशून्य समस्त त्रासद परिवेश साकार हो उठता है– ''हम सब तो आज लुट गए मम्मा। लोग बता रहे हैं मेरे आने तक डैडी को रखा नहीं जा सकता। आप ऐसा कीजिए इस काम के लिए किसी को बेटा बना कर दाह संस्कार करवाइए। मेरे लिए तेरह दिन रुकना मुश्किल होगा। आप सब काम पूरे करवा लीजिए। मजबूरी है मम्मा, मेरा दिल रो रहा है। मैं आपकी मुसीबत समझ रहा हूँ। और घर अनजान लोगों के लिए खुला मत छोड़िएगा। इंडिया में अपराध कितना बढ़ गया है, हम बी.बी.सी. पर सुनते रहते हैं।''[14] इस प्रकार 'दौड़' उपन्यास उपभोक्तावाद, भूमंडलीकरण और उत्तर–आधुनिक समय का ऐसा दर्दनाक अख्यान है जो जीवन पर बाजारवाद के अनेक दुष्प्रभावों यथा– आजीविकावाद की अंधी दौड़ में पारिवारिक मूल्यों एवं संवेदनाओं के अंत, संवेदनशून्य मशीन में तब्दील होती नई पीढ़ी की मूल्यविहीन एवं नैतिकताविहीन जीवन शैली, परिवार एवं विवाह जैसी परंपरागत सामाजिक संस्थाओं के विरूपण एवं विस्थापन, कंपनियों के

भ्रष्ट विज्ञापन अभियान और उपभोक्ता का शोषण, ब्यूटी पार्लरों की आड़ में पनपता अवैध देह व्यापार और कामयाब संतानों के वनवास काटते उपेक्षित एवं तिरस्कृत माँ–बाप की पीड़ा के विस्तृत कोलॉज को मानस पटल पर सहज ही अंकित कर देता है। वैश्वीकृत बाजारवाद के चंगुल में फँसे भारतीय किसानों के विस्थापन और उनकी आत्महत्याएँ परिवेश को और भी त्रासद बना देती हैं। कॉर्पोरेट्स द्वारा कृषि का बाजारीकरण और उनके साथ सरकार का गठबंधन इसके लिए पूर्णतः जिम्मेदार है– ''असल में सरकार मूलतः किसान और कृषि विरोधी है। वह कृषि सेक्टर को गरीब किसान के हाथ से छीनकर पूँजीपतियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सौंपना चाहती है। संरचनात्मक स्तर पर इनकी नीतियाँ जनविरोधी और प्रतिक्रियावादी हैं।''[15] पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्रों द्वारा प्रायोजित यह वैश्वीकृत बाजारवाद एक प्रकार से नए आभासी–साम्राज्यवाद का प्रारंभ है। जिसमें वे स्वयं के अक्सों से हमें अपने घर में बैठकर लूट रहे होते हैं। जीवन पर इसके भयानक दुष्परिणाम भी सामने आने लगे हैं। रवींद्र वर्मा के उपन्यास 'दस बरस का भँवर' (2007) में एक पात्र नमन के वक्तव्य द्वारा इस प्रकार की परिस्थितियों का उद्घाटन किया गया है– ''किसानों और मजदूरों की आत्महत्या का दौर शुरू हो गया है। वह दिन दूर नहीं जब बैंक के कर्मचारी भी इसी राह पर चलेंगे। मध्यमवर्गीय कर्मचारी किसी धोखे में न रहें। यह पिज्जा और डिजाइनर कपड़ों का संसार घरों में टीवी का परदा उठाकर घुस रहा है। बच्चे हजारों के कपड़े और जूते माँगते हैं। कल बैंकों का निजीकरण होगा और छँटनी होगी। जो बच्चे आज पिज्जा खा रहे हैं, कल उनके लिए रोटी जुटाना मुश्किल हो जाएगा।....दो सदी पहले अंग्रेजों ने एक हाथ में सलीब और दूसरे हाथ में बंदूक लेकर हमारे देश में प्रवेश किया था। इस दशक में गोरों ने फिर एक हाथ में पेप्सी और दूसरे हाथ में टी.वी. का केबल लेकर हमारी धरती पर कदम रखे हैं। अब हमारी धरती पर कदम रखने वाले वे खुद नहीं हैं। उनके अक्स हैं। ये अक्स अंतरिक्ष में घूमते सैटेलाइट के जरिए हमारे घरों में आते हैं। हमें पता भी नहीं चलता और हम अमेरिकी बिंबों के गुलाम हो जाते हैं।''[16] इस बजारवाद का ही दुष्परिणाम है कि एक तरफ जहाँ भारत में नव–धनाढ्य वर्ग का उदय हुआ है वहीं दूसरी तरफ गरीबी, भूख, रोग, झोंपड़पट्टी, विपदा, दमन और बेरोजगारी से पीड़ित एक गलीज राष्ट्र का उदय हुआ है जिसकी भयावहता दिल दहला देने वाली है। यथा–''यह ऐसा समय था जिसमें देश के एक तिहाई लोग पिज्जा खा रहे थे– बाकी लोग पिज्जा की प्रदर्शन खिड़की में आँखें गड़ाए खड़े थे।''[17] अलका सरावगी के उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' (2008) में तो इन स्थितियों का और भी अधिक विस्तार और गहराई में चित्रण हुआ है। यह उपन्यास पूरी तरह कॉर्पोरेट जगत की दुनिया के अंतर्बाह्य की सच्चाइयों को उघाड़ता है। रिलायंस, इंफोसिस, सत्यम जैसी कंपनियों के अफसरों के लिए प्राइवेट 'शिप' या 'यॉट' होते हैं। इन्हीं अफसरों का काम होता है कि सामान्य जन विशेषतः मध्यमवर्ग और यहाँ तक कि झुग्गी–झोंपड़ियों के निवासियों में भी उपभोग की विभिन्न वस्तुओं की ललक इस रूप में बढ़ा दें कि वे येन–केन–प्रकारेण उन्हें प्राप्त कर सकें या उन्हें प्राप्त करने के स्वप्न जीवन में पालते रहें। भले ही इन सबके लिए उन्हें आपराधिक कृत्यों में प्रवृत्त होना पड़े।[18] बाजारवादी दृष्टिकोण से प्रभावित आज के इस उत्तर–आधुनिक समाज में 'विवाह' और 'परिवार' जैसी परंपरागत आदर्श सामाजिक संस्थाओं को पूर्णतः विस्थापित किया जा रहा है। 'विवाह' को या तो एक सौदेबाजी के रूप में लिया जा रहा है अथवा उसकी जगह लिव–इन–रिलेशनशिप को महत्व दिया जा रहा है। उपन्यास का एक पात्र गुरु कॉर्पोरेट जगत की पैकेजनुमा नौकरी का एक विलासितापूर्ण जीवन जीता हुआ अनेक औरतों के साथ संबंध स्थापित करता है, उनके साथ 'लिव–इन–रिलेशनशिप' में रहता है। विवाह के प्रति उसका दृष्टिकोण वर्तमान उत्तर–आधुनिक समाज के भविष्य की तस्वीर खींच देता है। उपन्यास के पात्र भट्ट के शब्दों में– ''अब समझ में आया कि गुरु ने शादी क्यों नहीं की, उसने सोचा शादी तो एक बंधन है, वायदा है, प्रतिज्ञा है। इस तरह का व्यक्ति किसी बंधन में क्यों बंधेगा, खासकर जबकि उसे हर जगह ऐसे लोग मिल जाते हों जो उसके कदमों में बिछने के लिए तैयार हों।''[19] विवाह के साथ ही आज के इस उत्तर–आधुनिक समाज में परिवार को भी एक बीमा कंपनी मानकर तिरस्कृत कर दिया गया है– ''परिवार का मतलब एक बीमा कंपनी से ज्यादा क्या है ? परिवार है तो इसलिए कि तुम्हारे पढ़ने–लिखने, खाने–पीने, बीमार पड़ने, बूढ़े होने की व्यवस्था ठीक रहे।''[20] इस समाज में मानवीय संबंध तो इस हद तक विकृत हो चुके हैं कि बाजारवादी दृष्टिकोण अथवा स्त्री–मुक्ति के नाम पर पति द्वारा पत्नी को उसके प्रेमियों अथवा अन्य के साथ रहने तक की छूट दी जा रही है। इस प्रकार की स्थितियाँ एक सभ्य समाज का पुनः पशु समाज की ओर लौटने का संकेत दे रही हैं। जिसकी कल्पना मात्र से मानस में घृणा एवं वितृष्णा भर जाती है। तथाकथित समाज भले ही इसे उदारता, स्त्री–मुक्ति अथवा सच्चे अनुभव की दलील दे परंतु इस प्रकार की धारणा किसी भी सभ्य समाज में विचार या संस्कार से ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं हो सकती– ''तो क्या यह शख्स अपनी पत्नी के प्रेमी को यह मौका दे रहा है कि वह प्रेम की ऊँची–ऊँची पींगे भरे ?''[21] रुक्मिणी के पति द्वारा रुक्मिणी को 'गुरु' के साथ बीच–बीच में रहने की छूट देने का यह प्रसंग एक पात्र 'भट्ट' को घृणा एवं वितृष्णा से भर देता है और वह कॉर्पोरेट जगत से बाहर निकलकर एक आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहता है– ''अब वह लौटकर एक मुकम्मिल जीवन जिएगा। एकदम सही तरीके से, जैसे बाकी दुनिया जीती है।''[22] अर्थप्रधान जीवन अथवा मानवीय संबंधों का बाजारीकरण एक अन्य दारुण स्थिति है जहाँ बिना शर्तों के माँ–बाप, पत्नी, बच्चे और प्रेमिका कोई भी पारस्परिक प्रेम और सद्भाव को महत्व नहीं देते हैं– ''सफल होने पर कई बाप मिल जाते हैं। 'भट्ट' को लगता था कि उसकी सफलता से उसका बाप, उसकी पत्नी और यहाँ तक की उसका बेटा भी उसे अब जाकर मिले हैं। यों पिता को देखकर कई बार उसके मन में क्रोध, शिकायत और क्षोभ का बवंडर उठता। कितना दुख पहुँचाया था पिताजी ने उसे। उसके दिल के घाव जब–तब हरे हो उठते। क्या जीवन में रुपया–पैसा–सफलता इसी का ही मोल है ? क्या बिना शर्तों पर माँ–बाप भी अपने बच्चों से प्यार नहीं कर पाते ?''[23] दिन–रात कंपनियों की सेल बढ़ाने के लिए गुर (पैंतरे) इजाद करते उनके मैनेजर और एक–एक दिन में करोड़ों की सेल करती कंपनियाँ, सौंदर्य उत्पादों की बेतहाशा बिक्री एवं कंपनियों का सौंदर्य बाजार, मॉल्स द्वारा विस्थापित होता परंपरागत बाजार एवं छोटे दुकानदारों का खत्म होता अस्तित्व, रिटेल इंडस्ट्री का उफान, देशी एवं विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा नित्य नए उत्पादों का सृजन और उपभोक्ताओं में उनके उपभोग की ललक पैदा करते विज्ञापन, जीवन पर निगमों का नियंत्रण, बहुराष्ट्रीय निगमों का औद्योगिक विस्तार और उनके फैलते बिजनेस, आई टी पार्क, सेज, आदि से विस्तापित होते किसान एवं आदिवासी, हथियार की अर्थव्यवस्था, निगमों द्वारा प्रतिभाओं एवं युवाओं का दोहन, आर्थिक सुधारों (उदारवाद) की नीतियों के फलस्वरूप भारतीय मध्यमवर्ग की क्रयशक्ति का विस्तार एवं नव–धनाढ्य वर्ग का उदय, विदेशी कंपनियों की प्रतिस्पर्धा में भारतीय उद्योग धंधों का पिटना, निगमों के निम्नस्तरीय उत्पाद एवं उच्चस्तरीय मुनाफाखोरी के फलस्वरूप उपभोक्ताओं का शोषण, निगमों द्वारा अपने सामाजिक उतरदायित्व का दिखावा, भारत के उभरते हुए शक्तिशाली बाजार एवं भारतीय मीडियम क्लास पर निगमों की गिद्ध दृष्टि, इंडस्ट्रियल टेक्नोलॉजी के स्थान पर सूचना तकनीकी समाज का उदय, देश की सत्ता का निगमों के हाथों में हस्तांतरण, निगमीय भारत (कॉर्पोरेट भारत) का उदय बनाम पोंगापंथी भारत के अंतराल, निगमों के हाथों देश का बिकना, टीवी एवं विज्ञापन द्वारा बाजार को पनपाना, निगमों द्वारा भारतीय अंधविश्वासों का बाजारीकरण, पिछड़े भारत में अवैज्ञानिकता और पोंगापंथी को बढ़ावा, औद्योगिक विकास से बढ़ता हुआ विनाश, संगीत, कला, खेल, पुस्तकों और सोशल मीडिया आदि का बाजारवाद के तहत घटियाकरण, पूँजीपालित मीडिया, 'कंफर्ट जोन' की बढ़ती मानसिकता,

स्वप्नदर्शी समाज का उदय और कॉर्पोरेट्स के शोषणतंत्र आदि की परिस्थितियाँ जोकि वैश्वीकृत बाजारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति का उत्पाद हैं, को इस उपन्यास में गहन गंभीर रूप से विश्लेषित किया गया है। उत्तर–आधुनिक भूमंडलीकरण प्रायोजित बाजारवाद से उत्पन्न शाइनिंग इंडिया बनाम कंगालीकरण एक अन्य विकट स्थिति है जिसे राजू शर्मा के उपन्यास 'विसर्जन' (2009) में उसकी संपूर्ण विडंबना के साथ प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि उदारवाद, भूमंडलीकरण और बाजारवाद की प्रक्रिया के तहत देश का आर्थिक परिवेश बदला जरूर है एवं उसकी आर्थिक वृद्धि में भी उछाल आया है और इस प्रकार के चमकते इंडिया की चकाचौंध में हम गद्‌गद् और आत्ममुग्ध भी हैं तथापि इसी प्रक्रिया के तहत दूसरी तरफ देश में कंगालीकरण भी इतना तीव्र हुआ है कि जिस दिन तीन नए परिवार दस से पचास लाख की आय वर्ग में शामिल होते हैं, उसी दिन तीन नए बंदे बेघर हो जाते हैं।[24] भूमंडलीकरण ने जहाँ एक ओर महानगरों में नव–धनाढ्य वर्ग को उत्पन्न किया है वहीं दूसरी ओर महानगरों में बेघर रिक्शाचालकों, प्रवासी मजदूरों, ऑटो–ड्राइवरों, फेरीवालों, कबाड़ियों, झुग्गी–झोंपड़ियों और भिखारियों की एक गलीज दुनिया भी खड़ी कर दी है। इस प्रकार कथित बाजारवाद के परिणामस्वरूप शाइनिंग इंडिया के बरक्स एक कंगाल भारत का नक्शा भी उसके सह–उत्पाद के रूप में उभरकर आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। वर्ष 2010 में वीरेंद्र जैन के प्रकाशित उपन्यास 'सुखफरोश' में बाजारवाद के उस पहलू को अनावृत्त किया गया है जिसमें कंपनियाँ सुख जैसी अमूर्त भावना को भी 'पण्य' बनाकर बेच रही हैं। यह बाजारवाद का ही दुष्प्रभाव है कि कंपनियाँ 'सुख भावना' का बाजारीकरण कर लोगों की यौन–कुंठाओं और अतृप्त कामेच्छाओं का इस्तेमाल कर लोगों के साथ जालसाजी एवं षड्यंत्र कर उन्हें अपने जाल में फँसाकर ब्लैकमेलिंग करते हुए बहुत ही आसानी से उनकी एकत्रित पूँजी एवं धन को छीन लेती हैं एवं व्यक्ति खुद को ठगा सा महसूस करता हुआ रह जाता है और स्वयं की इज्जत बचाने के चक्कर में चाहकर भी इन कंपनियों के विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं कर पाता है। कंपनियाँ व्यक्तियों को अपने जाल में फँसाने हेतु पहले तो सुंदर और मधुरभाषिणी बालाओं द्वारा उन्हें प्रलोभन पूर्ण कॉल करवाती हैं यथा– ''किसी भी क्षण आपका फोन बज सकता है। आपको इनाम जीतने की बधाई दी जाएगी। इनाम भी एक नहीं, तीन–तीन। एक लाख का बीमा। विदेश यात्रा। पंचतारा होटल में रहना और गिफ्ट बाउचर।''[25] इसके बाद व्यक्तियों को इच्छित स्थान पर बुलाकर उन्हें सुंदर बालाओं के साथ रखकर कामुक वातावरण तैयार करवाया जाता है। यथा– ''शेष जोड़ों के बैठने का ढंग ठीक वही है जो उसका (अविनाश दास) और काम्या का है। इनकी साथिन भी ठीक उसी तरह उनकी हथेली सहला रही हैं जैसे काम्या खुद उसकी सहला रही है।....लगता है महिला मित्रों का प्रेम प्रदर्शित करने का, अपनापन दर्शाने का यही एक तरीका है। और यही एक लिबास ! वही देह दर्शना, नाभिदर्शना साड़ी और उभारों को ढकने के बजाए उनके वास्तविक आकार से ज्यादा आकार का होने का भ्रम पैदा कराने में सहायक स्लीवलैस ब्लाउज !''[26] इसके बाद अपनी योजनाओं के प्रलोभन एवं सब्जबाग दिखाकर बहुत आसानी से व्यक्तियों की जेबों पर डाका डाल दिया जाता है। व्यक्तियों के विरोध करने पर कंपनियों द्वारा उनके घर पर फोन कर दिए जाने की धमकियाँ देकर ब्लैकमेलिंग शुरू कर दी जाती है। व्यक्ति स्वयं ठगा सा और लुटा सा महसूस करके रह जाता है। इस प्रकार जालसाजी और षड्यंत्र वर्तमान बाजारवाद का आवश्यक लक्षण होकर उसकी भयावहता को प्रकट करता है। वर्ष 2011 में प्रकाशित संजीव का उपन्यास 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' बाजारवाद के तहत विज्ञान का पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली बन जाने, विज्ञान के साथ अध्यात्म का भी व्यवसाय बन जाने, शिक्षा के विकास के बाद भी बाजारवाद द्वारा व्यक्तियों में नए प्रकार के अंधविश्वासों के प्रत्यारोपण जैसी उत्तर–आधुनिक विकृतियों की भयावहता को प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास आज के इस उत्तर–आधुनिक एवं उत्तर–पूँजीवादी युग में कॉर्पोरेट मुनाफे के तंत्र द्वारा विज्ञान के सर्वातिशायी अपराधीकरण के दुष्प्रभावों को उजागर करता है। इस संदर्भ में कृत्रिम गर्भधारण से उत्पन्न एक बालक पीटर द्वारा व्यक्तियों के प्रत्येक चेहरे में अपने पिता की खोज करने की मनोव्यथा का एक प्रसंग उल्लेखनीय है– ''सिर्फ एक सवाल, उसने मुझे जन्म क्यों दिया ? माना कि स्पर्म बैंक में स्पर्म देकर वह निवृत्त हो गया, जैसे पेशाब–पाखाना किया, फ्लेश किया, निवृत्त हो गया....।''[27] कहना न होगा कि विज्ञान की अभूतपूर्व उपलब्धियाँ मानवीय संबंधों के संसार में उत्पन्न होने वाली विकृतियों में परिणत हो गई हैं। बाजार ने मनुष्य पर कब्जा करके उसे आत्माविहीन और अमानवीय बना दिया है। तत्पश्चात् गिरिराज किशोर का उपन्यास 'स्वर्णमृग' (2012) साइबर क्राइम को केंद्र में रखकर बाजारवाद की अनेक भयावहताओं की चर्चा करता है। उपन्यास साइबर क्राइम के लॉटरी कांडों की असलियत की पोल खोलता है और बिना कुछ किए करोड़पति या अरबपति बनने की लालसा में ठगे जाते व्यक्तियों की दुर्दशा के साथ–साथ हमारी पूरी संस्कृति का ही क्रेडिट कार्ड संस्कृति और उधारजीवी संस्कृति में बदलने की त्रासदी को भी उद्घाटित करता है। वैश्वीकरण द्वारा प्रायोजित बाजारवाद के इस युग में पैसे की ऐसी सुनामी आई है जिसमें बहते हुए मनुष्य ने इंसानी रिश्तों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। भूमंडलीकृत बाजारवाद की नीतियों का भारतीय श्रमिक वर्ग के जीवन पर जो भयावह और त्रासद दुष्प्रभाव पड़ा है, उसको कमल कुमार के उपन्यास 'पासवर्ड' (2013) में उजागर करते हुए उसका प्रतिरोध प्रस्तुत किया गया है। इस विषय में उपन्यास का एक संदर्भ द्रष्टव्य है– ''लेकिन विकास हो रहा है देश का ! देश यानी सेठ–साहूकार, उद्योगपति, भूमाफिया ? उद्योगपति देश हैं, पूँजीपति देश हैं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मालिक देश हैं, सच तो यही है, यही देश हैं। इनके विकास की कीमत चुका रहा है किसान, आदिवासी, मेहनतकश और दलित। आज हमारी जमीन, जल और जंगल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले किए जा रहे हैं।''[28] 'गायब होता देश' (2014) में रणेंद्र ने राजनीतिज्ञों और पूँजीपतियों के गठजोड़ द्वारा विकास के नाम पर आदिवासियों के विस्थापन की भयावह त्रासदी को भूमंडलीकृत बाजारवाद के दुष्परिणाम के रूप में प्रस्तुत करते हुए इसका एक सशक्त प्रतिरोध भी प्रस्तुत किया है– ''जबरिया जमीन हथियाने की बर्बरता को विकास के परदे से ढकने का पाखंड अब और नहीं। चाहे गाँव में बाँध के लिए जमीन हथियाई जा रही हो या शहर में घर के लिए।''[29] विकास के नाम पर कॉर्पोरेट्स द्वारा औद्योगिक वस्तुओं का अकूत उत्पादन किया जाता है और फिर इन गैर जरूरी वस्तुओं की विज्ञापनों द्वारा जरूरतें उत्पन्न कर सुविधाओं के नाम पर उनका बाजार खड़ा किया जाता है और मध्यमवर्ग से लेकर अति निम्नवर्गीय श्रमिकों तक की भी चुपके से जेब काट ली जाती है। आदिवासियों को बरगलाकर एवं उन्हें समृद्धि का सब्जबाग दिखाकर गैर–कानूनी रूप से उनकी जमीनों के अधिग्रहण करने सहित कॉर्पोरेट्स के समस्त बाजारवादी शोषणतंत्र को इस उपन्यास में कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है। 'गाँव–भीतर गाँव' (2015) उपन्यास में लेखक सत्यनारायण पटेल ने विस्तृत फलक पर उत्तर–आधुनिक बाजारवादी संस्कृति की भयावहताओं को प्रकट किया है। मजदूरों के शोषण का कुचक्र, बाजारीकरण के प्रभाव से निजीकरण को बढ़ावा, गैर–सरकारी संस्थाओं के व्यावसायीकरण, उदारीकरण, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद द्वारा प्रायोजित नीतियों के फलस्वरूप किसानों, आदिवासियों, बेरोजगारों, मजदूरों एवं दलितों की आत्महत्याएँ, किसानों की जमीनों का अधिग्रहण एवं देश के प्राकृतिक संसाधनों की अंतहीन लूट, सत्ता एवं पूँजीपतियों की मिलीभगत और राजनीति का व्यावसायीकरण, गरीबों के शोषण, बाजारवाद एवं पूँजीपतियों के दबाव में सरकार की किसान विरोधी नीतियाँ, पूँजीपतियों द्वारा मीडिया पर कब्जा जमाने एवं मीडिया के बाजारीकरण और बेरोजगारों द्वारा विरोधस्वरूप बंदूकें उठाने जैसी समस्त बाजारवादी भयावहताओं को इस महाकाव्यात्मक उपन्यास रचना में अनावृत्त कर दिया गया है। उपन्यास में मजदूरों को खाद के दाने का रूपक देकर पूँजीपतियों द्वारा उनके शोषण

के कुचक्र को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है– ''कुछ धन पशु, सफेद हाथी और लोकतंत्र के गिद्ध या उनकी आज्ञा के पालन में उनके गुलाम, मातहत उन्हें खरीदेंगे। चक्की में पिसवाएँगे। थाली में रौंदेंगे–गूँथेंगे। तवे पर, चूल्हे पर और गैस की आँच पर सेकेंगे। खौलते तेल में तलेंगे। मालिक की थाली में परोसेंगे, मालिक अपने गंदे–गंदे दाँतों से चबाएगा। लेकिन मुक्ति वहाँ भी नहीं मिलेगी। खवखड़ी आँते कतरा–कतरा रस, ऊर्जा और सार सत्व सोख लेंगी। दानों को आम–अवाम की तरह निचोड़ लेंगी। आम–अवाम से दाने लोकतंत्र के गिद्धों की हगार बन जाएँगे। हगार फिर खाद का दाना, फिर अनाज का दाना, फिर वही पूरा चक्र। उफ ! इस चक्र–कुचक्र से मुक्ति चाहिए।''[30] किसान आत्महत्या के एक प्रसंग में उपन्यासकार ने उदारीकरण की बाजारवादी नीतियों की भर्त्सना इन शब्दों में की है– ''गरदन पर फरफंदा जोर से कसाया। गरदन की हड्डी कट से टूट गई। धोती में मल–मत्र छूट गया और फिर बचा ही क्या कहने को। बस जय हिन्द...जय उदारीकरण ! जय–जय–जय प्रधानमंत्री। जय–जय–जय हो योजना कुमार ! तुम्हारे बाल–बच्चे जिएँ ! तरक्की करे तुम्हारा देश महान !''[31] वर्तमान समय में बढ़ती स्किजोफ्रेनिया की बीमारी भी उत्तर–आधुनिकताजन्य समकालीन बाजारवादी संस्कृति के त्रासद और दुःखद परिवेश की ही उपज है। वैश्वीकरण के दो अनिवार्य घटकों– बढ़ते शहरीकरण और विस्थापन के कारण पारिवारिक ढाँचा ध्वस्त हो रहा है। मनोचिकित्सकीय शोधों के अनुसार बढ़ता हुआ शहरीकरण स्किजोफ्रेनिया के होने की दर को भी बढ़ा रहा है और पारिवारिक ढ़ाँचे में टूट के कारण रोग से मुक्ति में भी बाधा पहुँच रही है। समकालीन बाजारवादी परिवेश से बढ़ती जा रही इस बीमारी की भयावहता को मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यास 'स्वप्नपाश' (2016) में दर्शाया गया है जहाँ एक युवती गुलनाज फरीबा का जीवन स्वप्न के समान सत्य और मिथ्या के बीच झूल रहा है और वह उसके पाश (जाल) से अपने आपको मुक्त कर पाने में असमर्थ है। यथा– ''दिक्कत स्किजो लोगों के साथ नहीं इस समाज के साथ है। हमारे यहाँ मानसिक व्याधियों को कलंक माना जाता है, व्यक्ति पर, परिवार पर। यही कलंक और परिवार द्वारा अकेले छोड़ दिया जाना ही इन लोगों को नष्ट करता है न कि बीमारी को ।''[32] संजय कुंदन कृत 'तीन–ताल' (2017) उपन्यास में बाजारवादी संस्कृति की भयावहताओं को और अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। बाजारवादी मनोवृत्ति के मालिकों एवं संपादकों के कारण नवयुवकों की सिद्धांतवादी और आदर्शवादी पत्रकारिता के ध्वस्त होते स्वप्न, पत्रकारिता का किसी भी हद तक पतनशील होकर दलित, दमित लोगों की पीड़ा व समाज सेवा से कटते जाना, मीडिया का बिकाऊपन एवं बाजारीकरण के कारण उसमें पोर्नोग्राफी की बढ़ती प्रवृत्तियाँ, मीडिया मालिकों की पूँजीपतियों एवं नेताओं के साथ मिलीभगती, मूल्यवादी एवं सिद्धांतवादी संवाददाताओं की उपेक्षा, पत्रकारिता का भ्रष्टाचार में लिप्त होना, बाजारवादी संस्कृति के प्रभाव के कारण समाज में ड्रग्स, तलाक एवं विवाह–विच्छेद, वृद्धों का निष्कासन, पूँजीपतियों का दोहरा चरित्र उनका बहुरूपियापन और अपने कार्मिकों के साथ तानाशाहीपूर्ण व्यवहार और बलप्रयोग करते हुए उनका शोषण, कंपनियों का अमानवीय और संवेदनहीन चरित्र और मुनाफाखोरी को महत्व, सिद्धांतवादी और आदर्शवादी युवकों का कॉर्पोरेट्स, पत्रकारिता एवं घर–परिवार के साथ–साथ समाज में असफल होते जाने की त्रासदी, युवकों का अपने सिद्धांतों व आजीविका के बीच अंतर्द्वंद्व, मैनेजरों का कंपनियों के लिए मुनाफे का उपकरण बनते जाना, पूँजी का कुछेक हाथों में केंद्रीकरण एवं भुखमरी, जीवन में समझौतावादी लोगों की सफलता एवं मूल्यों व आदर्शों की व्यर्थता, कंपनियों द्वारा नेताओं से मिलीभगती एवं गैर–कानूनी कार्यों गुंडागर्दी आदि से आम अवाम की जमीनें एवं संपत्ति कब्जाना, अपने कर्मचारियों, किसानों एवं आदिवासियों की बेदखली, पूँजीवाद का विरोध करने वालों का स्वयं पूँजीवाद के प्रभाव में आकर उसका समर्थन करना यानी पूँजीपतियों द्वारा सब कुछ को अपनी गिरफ्त में लेकर लीलते जाना, कंपनियों द्वारा कर्मचारियों की अकारण व गैरकानूनी छँटनी, भारतीय मध्यमवर्ग का व्यर्थ दिखावा–प्रदर्शन एवं अपव्यय, पूँजीपतियों के दबाव से भ्रष्टाचार प्रतिरोधी आंदोलनों का विफल होते जाना, बहुराष्ट्रीय एवं देशी कंपनियों का भ्रष्टाचार, क्रांतिकारी पार्टियों एवं व्यक्तियों का नेताओं, भ्रष्ट अधिकारियों, भूमिपतियों, पूँजीपतियों और उद्योगपतियों से गठबंधन के कारण उनका विफल होना, गैर सरकारी संस्थाओं की दलाली और भ्रष्टाचार, अन्याय एवं शोषण का प्रतिरोध करने वाले कर्मठ युवाओं को कंपनियों द्वारा मनोचिकित्सकों से मिलीभगत कर पागल घोषित करवाते हुए उन्हें निष्कासित करना, कंपनियों और पूँजीपतियों के दाँव–पेच, साजिशें और बहुरूपियापन, बाजारवाद का नौकरी पर प्रभाव, व्यक्ति का मजबूरन बाजार के हाथ की कठपुतली बनकर स्वत्व से उसकी पृथक्कता, बाजारवाद एवं मानवीय लोगों की त्रासदी, नेताओं का कंपनियों के साथ मिलकर गरीबों का शोषण एवं गरीबों को यथास्थिति में बनाए रखना, कंपनियों द्वारा नेताओं को धनबल एवं रिश्वत देकर सरकारी योजनाओं का अपने हित में परिवर्तन करवाना एवं मुनाफा कमाना और बाजारवाद के प्रभाव से व्यक्तियों का व्यवस्था के भ्रष्टाचार में लिप्त होना व उसका गुणगान करने सहित बाजारवादी संस्कृति की तमाम भयावहताओं का चित्रण इस औपन्यासिक कृति में किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास से बाजारवाद का व्यक्ति के जीवन पर पड़ते दुष्प्रभाव का एक संदर्भ उद्धरणीय है– ''नौकरी करना सिर्फ नौकरी करना नहीं है। वह है व्यवस्था के साथ चलना, अपने दिलोदिमाग को एक खास पॉवर के अनुकूल बना लेना। पहले पॉवर कहीं और था। अब वह बाजार के हाथ में है। अब नौकरी का अर्थ है व्यक्ति का अनुकूलन बाजार के प्रति। अपना स्वत्व छोड़ दो। बाजार के होकर रहो। अपने सुख–दुःख उसके हवाले कर दो।''[33] नेताओं के द्वारा कॉर्पोरेट्स हाउसेज के साथ गठबंधन कर गरीबों के शोषण का भी एक चित्र उल्लेखनीय है– ''वैसे ही जैसे कोई चीफ मिनिस्टर दंगा करवाकर, सैकडों मुसलमानों को मरवाकर भी पॉपुलर बना रहता है क्योंकि वह एक कॉर्पोरेट हाउसेज को फैक्टरियाँ लगाने की छूट देता है, उन्हें मनमानी करने का लाइसेंस देता है।...भले ही उसके स्टेट में लाखों बच्चे माल–न्यूट्रिशन का शिकार हों। भले ही किसान परेशान हों। बस किसी तरह कॉर्पोरेट हाउसेज, हाई मिडिल क्लास और पढ़े लिखे तबके को खुश कर देना है। देखो वह नेता अचानक से क्या का क्या हो जाता है। वह विकास पुरुष बन जाता है। गरीबों का मसीहा कहा जाता है। मीडिया उसको क्या से क्या बना देता है। गरीबों का मुँह बंद करने के लिए उसके पास क्या है ? रोजगार की गारंटी, एक रुपए में चावल। इसी से वाह वाह हो रही है। यानी गरीब मरे नहीं, बस उसकी साँस चलती रहे ताकि वे वोट दे सकें। और जो पहले से अमीर हैं वे और अमीर बनें। उनके बच्चे पढ़ें–लिखें, अमेरिका जाकर रहें और गरीब बस जिंदा रहें, जैसे कुत्ते जिंदा रहते हैं, कीड़े–मकोड़े रहते हैं।''[34] इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में आकर ज्ञान चतुर्वेदी की औपन्यासिक कृति 'पागलखाना' (2018) भूमंडलीकृत बाजारवाद के प्रभाव से एक पागलखाने में तब्दील होती दुनिया की आंतरिक सच्चाइयों को उनकी समस्त भयावहताओं के साथ प्रस्तुत कर देती है। आज की समकालीन बाजारवादी प्रवृत्तियों और जीवन में बाजार के बढ़ते दखल के कारण एक तरफ झुग्गी–झोंपड़ियों की गलीज दुनिया में रहने वाला मजदूर विक्षिप्त हो रहा है, तो दूसरी तरफ अधि–पूँजी को सुरक्षित रखने की चिंता में रईस भी स्किजोफ्रेनिया का शिकार हो रहा है, तीसरी तरफ बेरोजगारी की मार खाया युवक पागल हो रहा है तो चौथी तरफ मध्यमवर्गीय परिवार का आम आदमी प्रतिस्पर्धा, दिखावे और अधिक उपभोग को ही उच्च जीवन स्तर का मानदंड और प्रतिष्ठा मान लेने की मजबूरी के कारण आवश्यकताओं की पूर्ति के दबाव में धन कमाते–कमाते स्वयं के स्वप्नों और इच्छाओं की अतृप्ति के कारण मनोरोगी की हद तक पहुँच रहा है। उपन्यास से जीवन पर बाजार की गिरफ्त का एक संदर्भ दर्शनीय है– ''मनुष्य को कानोंकान खबर नहीं हुई और जीवन पर बाजार का कब्जा हो गया। यह सब कुछ इतने कौशल से हुआ कि स्वयं जीवन को ही अहसास नहीं होने दिया गया कि वह किसी के कब्जे में आ गया है। जीवन को तो

अपने पराजय की खबर ही नहीं मिली। सब लोग बाजार के कब्जे में एक–एक करके आते चले गए और किसी को पता ही नहीं चला। न वहाँ दुश्मन के दस्ते उतरे, न कोई बिगुल बजे, न किसी गोला बारूद का इस्तेमाल हुआ, न ही रणभेरी बजी, बस कब्जा हो गया।''[35] इसके बाद राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'ऑपरेशन महिषासुर' (2019) बाजारवादी संस्कृति के दुष्प्रभावों की भयावहताओं को प्रस्तुत करता है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास ऑपरेशन महिषासुर' (2019) में बाजारवाद के दुष्प्रभावों यथा उदारीकरण बनाम परंपरागत छोटे दुकानदारों की नष्ट होती आजीविका, नगरीकरण द्वारा गाँव–शहर के परंपरागत रूप–रंग और भूगोल को निगलते जाना, औद्योगिक विकास बनाम पर्यावरण का विनाश एवं परिवर्तित होते जलवायु, बहुराष्ट्रीय निगमों एवं सरकारों की मिलीभगती से आदिवासियों की जमीनों का बलपूर्वक अधिग्रहण, बेदखली और उनके विस्थापन के साथ–साथ असुर जैसी मनुष्य की आदिम जनजातियों का विलुप्त होना, खनन के पश्चात् कॉर्पोरेट्स द्वारा खानों को खुली छोड़ने के पश्चात् उनमें जल–भराव के कारण आकस्मिक दुर्घटनाओं से पशुओं एवं मनुष्यों के जीवन का नाश एवं बीमारियों का फैलना, भूमंडलीकरण के बाजारवाद के सह–उत्पाद के रूप में बंजर–जमीन, जहरीला पानी, जहरीली हवा, गंदी नदियाँ, रोग–बीमारी, कर्ज–बेरोजगारी, झुग्गी–झोंपड़ियाँ, गरीबी और भूख, कारखानों और स्थानीय जमीदारों व स्थानीय नेताओं के आपसी गठबंधन द्वारा देश एवं आदिवासियों के संसाधनों की ब्लात् लूट–खसोट, देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की एक साथ बाढ़ परिणामस्वरूप आदिवासियों का बेरोजगारी एवं गरीबी के कारण सशस्त्र विद्रोह एवं नक्सलवादी आंदोलनों के उद्भव, एक तरफ विकासशील इंडिया दूसरी तरफ कंगाल भारत की विरूप तस्वीर, सरकारों का आदिवासी एवं किसान मजदूरों आदि के शोषण एवं दमन की एजेंसी के रूप में काम करना, कॉर्पोरेट्स द्वारा युवाओं एवं प्रतिभाओं का दोहन एवं इस्तेमाल, मीडिया और पूँजीपतियों की मिलीभगती, व्यवस्था का कमीशनखोर होना एवं जनता की जमीनों को कंपनियों को बाँट देना, सरकार द्वारा आदिवासी आंदोलनकारियों को आतंकवादी–नक्सलवादी घोषित करके उनको अन्यायपूर्ण तरीके से मार गिराना, कंपनियों के प्रत्येक प्रतिरोध को उग्रवाद या राष्ट्रद्रोह घोषित करके कुचल देना, पुलिस, प्रशासन व नेताओं की मिलीभगती से आदिवासियों का दमन, शोषण एवं अत्याचार, कॉर्पोरेट्स द्वारा आदिवासियों के हितों के कानूनों को लागू नहीं होने देना, सुधारों के नाम पर आदिवासियों की बेदखली, राजनीति के अपराधीकरण, भुखमरी और गरीबी को नजरअंदाज कर नक्सलवाद को समस्या के रूप में उछालना एवं उसके मूल कारणों भुखमरी व गरीबी के उपचार का कोई यत्न नहीं करना और सत्ता एवं सरकारों द्वारा पूँजीवाद की वकालत करते हुए नेताओं द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनियों का पक्ष लेते हुए सेज, विस्थापन और भूमि हड़पने को जारी रखने के साथ–साथ तमाम प्रकार की बाजारवादी भयावहताओं का दिग्दर्शन इस कृति में करवाया गया है। उपन्यास के एक प्रसंग में कॉर्पोरेट्स के बाजारवाद की भयावहता को इन शब्दों में इंगित किया गया है– ''जब धरती से लोहा, कोयला, बॉक्साइट सब खत्म हो जाए तो खोखली खदानें छोड़कर, अपनी टीन–टप्पर पीछे छोड़ कर रुपए की बोरियाँ उठाए चुपचाप इधर से निकल लेगी कंपनी। किसी नई जगह कारखाना गाड़ देगी। यहाँ रह जाएगी बंजर जमीन, जहरीला पानी, गंदी नदियाँ, रोग बीमारी, कर्ज–बेरोजगारी, गरीबी और भूख।''[36] अंत में इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक के अंतिम वर्ष सन् दो हजार बीस में प्रकाशित मिथिलेश्वर के उपन्यास 'संत न बाँधे गाँठड़ी' (2020) में बाजारवादी संस्कृति के दुष्प्रभाव की चर्चा कर इस शोध पत्र का समापन करता हूँ। आलोच्य उपन्यास में समकालीन बाजारवादी समय के प्रभाव से भारतीय जनता की अंधश्रद्धा का लाभ उठाते हुए धर्म व अध्यात्म का बाजार खड़ा कर मठों एवं आश्रमों के बाबाओं द्वारा काला धंधा करते हुए अकूत धन संपदा की 'गाँठड़ी' बाँधने के जिक्र के साथ धर्म को व्यापार बना देने के नैतिक–आध्यात्मिक अपराध की भयावहता को दर्शाया गया है– ''और जिस देश के उद्योगपति, केंद्रीय मंत्री और उच्च पदाधिकारी ऐसे आश्रमों की भक्ति में समर्पित हों, वहाँ फिर अन्य देशवासियों का क्या कहना ? इस आश्रम की भक्ति में ऐसे कितने ही उद्योगपति घराने, मंत्री परिवार तथा उच्च पदाधिकारी और उनके कुटुम्बी शामिल होंगे। शायद यही वजह है कि बाहरी समाज जहाँ बेरोजगारी, गरीबी, भूख और विभिन्न समस्याओं से परेशान है, वहाँ इस आश्रम में चारों ओर सुख–शांति ही सुख–शांति है।'' (संत न बाँधे गाँठडी–मिथिलेश्वर) कहना न होगा कि ये धार्मिक संस्थान काले धन को सफेद बनाने उसे खपाने और बदले में राजनीतिक तख्तापलट में हिस्सेदार बनने वाले मुनाफा केंद्रित–संस्थानों के रूप में प्रकट होकर आँखों के सामने उपस्थित होते हैं। यद्यपि यहाँ इस रिसर्च–पत्र में इक्कीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों के प्रत्येक वर्ष में प्रकाशित एक–एक उपन्यास के संदर्भ में इस सदी में उदारवादी भूमंडलीकृत मुक्त बाजारवादी संस्कृति की भयावहताओं को उजागर करने का प्रयास किया गया है, तथापि आलोच्य युग (इक्कीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों) के बहुत सारे महत्वपूर्ण उपन्यास समय व स्थान की सीमा के कारण संदर्भ प्रस्तुत करने से वंचित रह गए हैं। उनके लिए भावी अनुसंधित्सुओं का स्वागत है।

निष्कर्ष

बाजारवादी संस्कृति का असीमित और अंतहीन फैलाव गाँव और शहर के निम्न और मध्यमवर्गीय आम आदमी को अपने अधिकारों और हकों से वंचित बेदखल कर रहा है, गरीबी का विस्तार हो रहा है। नगरों में तो कच्ची बस्तियाँ और झुग्गी–झोंपड़ियाँ इसके सह–उत्पाद के रूप में प्रकट होकर कुकुरमुत्ते की नाईं फैल रही हैं। बाजारवाद की बढ़ती प्रवृत्ति से आए बदलावों के फलस्वरूप जीवन बाजार की गिरफ्त में आकर विकृत, विसंगत और विरूप हो रहा है। पारिवारिक संबंधों में कड़वाहट के साथ परिवार दिन–ब–दिन टूटते जा रहे हैं। बाजार की छद्म लीला प्रत्येक आदर्श को कलात्मकता के साथ बेच रही है। प्रत्येक प्रकार की मानवीय सेवा– शिक्षा, चिकित्सा एवं अध्यात्म को व्यवसाय के रूप में तब्दील किया जा रहा है। यहाँ तक प्रत्येक प्रकार के समकालीन उत्तर–आधुनिक विमर्शों (दलित, स्त्री, किन्नर, किसान, आदिवासी सहित) का भी बाजारीकरण कर मुनाफा कमाया जा रहा है। पूँजीवादी राष्ट्र अपने बाजार एवं वर्चस्व के लिए वंचित राष्ट्रों में हिंसा और बर्बरता को प्रश्रय देकर अपना हथियार बाजार फैला रहे हैं। सत्ता, सरकार और पूँजीपतियों का गठबंधन किया जाकर किसान, आदिवासी और आम–अवाम की जमीनों का अधिग्रहण हो रहा है, उन पर सेज, मॉल, खदान और कारखाने बनाए जा रहे हैं। किसानों, आदिवासियों आदि के विस्थापन और बेदखली से मजदूरों की संख्या में बढ़ोत्तरी की जा रही है उनका शोषण और उत्पीड़न बढ़ रहा है। आम आदमी को उत्पादन के साधनों (भूमि, पूँजी, श्रम आदि) से वंचित किया जाकर भूख, गरीबी, बेरोजगारी आदि को बढ़ाया जा रहा है। यौन–कुंठाओं तक का बाजारीकरण किया जा रहा है। सरकार, संविधान, लोकतंत्र, जीवन, सत्य, ईमानदारी, देवता, पूजापाठ, सब की बेदखली हो रही है। यानी जीवन को ही बेदखल कर बाजार की स्थापना हो रही है। व्यक्ति एक भय, आशंका, अकेलापन, संत्रास एवं अजनबीपन और घुटन में जी रहा है। उसका स्वयं का अस्तित्व पहचान और व्यक्तित्व विगलित हो रहा है। व्यक्ति संख्याओं में तब्दील होता जा रहा है, स्वयं समय को भी बेदखल किया जा रहा है। बाजार की अराजकता दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अनेक प्रकार के षड्यंत्र किए जा रहे हैं। प्रत्येक स्थान पर बाजार और उसके आका पूँजीपतियों की मौजूदगी वर्तमान है। उनकी शक्तियाँ मायावी हो रही हैं। व्यक्ति के दिमाग को विचारविहीन एवं सोचविहीन किया जा रहा है। मानवता का क्षय एवं ह्रास हो रहा है। व्यक्ति को उसकी स्मृतियों (कविता–साहित्य, संस्कृति, समाज, लोक, पूर्वज, संबंध आदि) से बेदखल किया जा रहा है। उसकी संवेदनाओं को मारकर उसे मशीन और वस्तु में तब्दील किया जा रहा है।

गरीब और अमीर में दूरी को बढ़ाया जा रहा है। आम आदमी के स्वप्नों को मारकर उसको वंचित कर पूँजी बनाई जा रही है। एक ओर पॉश–कॉलोनियाँ तो दूसरी ओर अल्ट्रा–पॉश कॉलोनियाँ बसाई जा रही हैं। जीवन को होड़ और आपाधापी से युक्त कर निरर्थक बनाया जा रहा है। संक्षेप में दुनिया को बाजार के कचरे में तब्दील किया जा रहा है और कमजोरों को वंचित, विस्थापित कर हाशिए पर धकेला जा रहा है।

संदर्भ ग्रंथ

1 चतुर्वेदी, ज्ञान, 2018, पागलखाना, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., पृ.–15
2 सरावगी, अलका, 2001, शेष कादंबरी, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृ.–25
3 सिंह, काशीनाथ, 2022, काशी का अस्सी, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., पृ.–142
4 मिथिलेश्वर, 2003, सुरंग में सुबह, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.–388
5 वही, पृ. 388
6 वही, पृ. 384
7 वही, पृ. 297
8 वही, पृ. 87
9 वही, पृ. 281
10 वही, पृ. 299
11 वही, पृ. 308
12 वर्मा, रवींद्र, 2004, मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगा, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 154
13 कालिया, ममता, 2005, दौड़, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 74
14 वही, पृ. 89
15 शर्मा, राजू, 2007, हलफनामे, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., पृ. 219
16 वर्मा, रवींद्र, 2007, दस बरस का भँवर, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. पृ. 74
17 वही, पृ. 74
18 सिंह, पुष्पपाल, 2015, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रा. लि., पृ. 162
19 सरावगी, अलका, 2010, एक ब्रेक के बाद, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृ. 102
20 वही, पृ. 108
21 वही, पृ. 100
22 वही, पृ. 109
23 वही, पृ. 180
24 शर्मा, राजू, 2009, विसर्जन, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 180
25 जैन, वीरेंद्र, 2011, सुखफरोश, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 143
26 वही, पृ. 89
27 संजीव, 2011, रह गईं दिशाएँ इसी पार, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृ. 114–115
28 कुमार, कमल, 2013, पासवर्ड, नई दिल्ली, सामयिक प्रकाशन, पृ. 63
29 रणेंद्र, 2014, गायब होता देश, गुड़गाँव, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया, पृ. 81
30 पटेल, सत्यनारायण, 2015, गाँव–भीतर–गाँव, पंचकुला, आधार प्रकाशन प्रा०लि०, पृ. 9–10
31 वही, पृ. 121
32 कुलश्रेष्ठ, मनीषा, 2022, स्वप्नपाश, नई दिल्ली, सामयिक प्रकाशन, पृ. –144
33 कुंदन, संजय, 2017, तीन–ताल, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, पृ. 125
34 वही, पृ.–126
35 चतुर्वेदी, ज्ञान, 2018, पागलखाना, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृ. 21
36 सिंह, राकेश कुमार, 2019, ऑपरेशन महिषासुर, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ–107